मनोनुकृति

केशरी नाथ त्रिपाठी

शांति प्रकाशन
इलाहाबाद

●

जिन्होंने मेरे पंचतत्व को रूप दिया

उन्हीं

पिता पं० हरिश्चन्द्र त्रिपाठी

एवं

माता श्रीमती शिवा देवी

को

असीम श्रद्धा सहित

समर्पित

○

●

अभिमत

काव्य-मीमासा मे राजशेखर ने 'कविचर्या राजचर्या च' नामक दशम् अध्याय में लिखा है—

"स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यं"

काव्य के साथ कला का समावेश मैंने अपने जीवन में चरितार्थ होते देखा है। "कलाश्लाघ्यायशूलिने" से चिन्तन का निष्कर्ष है कि कला मूलतः आनन्दमयी है। अंश होते हुए भी समग्र का बोध कराती है। इसीलिए काव्य के साथ उसकी जन्मजात संगति रही है।

"विश्रान्तिर्याऽस्या सम्भोगे सा कला न कला मता।

लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।।"

कालिदास ने अन्तःकरण की परिभाषा इस रूप में दी है कि वह जीवन को विकृति के रूप में लिखना दार्शनिक दृष्टि से सही है। यहाँ विकृति शब्द जीवन-तत्वों को धारण करने वाली शक्ति के रूप मे देखा गया है।

मन-बुद्धि-चित्त अहंकार, यह चतुष्ट्य अंतःकरण का पर्याय है। काव्य इनकी संगति से ही उपजता है। कविर्मनीषी परिभू-स्वयंभू" जसी वैदिक वाणी के साथ जब हम "कवयःसन्ति वेधसः" ऋग्वेद 5 (52) 13, को जोड़कर देखते है तो लगता है कि कविता हमारी संस्कृति ओर साहित्य की धुरी रही है। नाट्यशास्त्र तथा ध्वन्यालोक में स्पष्ट रूप से कवि और सामाजिक को एकात्म भाव से देखा है—

कविर्हि सामाजिक तुल्य एव *-ध्वन्यालोक*

सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति *-नाट्यशास्त्र"*

सुहृद शब्द भारतीय कविता की पहचान है। "कवि का स्वभाव" और "काव्य का स्वभाव" परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। आज का युग भाव से अधिक विचार को महत्ता देता है और इसी दृष्टि मे कविता का मूल्यांकन अभीष्ट है।

अपने पहले संग्रह "मनोनुकृति" के विषय में कवि के रूप में श्री केशरी नाथ त्रिपाठी ने अपने विकास-क्रम को लक्षित किया है।

व्यक्ति के भीतर कवि कभी मरता नही। चुनौतियों ने उन्हे कभी हताश नहीं किया क्योंकि उनके भीतर ''सुधा'' का स्रोत निरन्तर प्रवाहित रहा।

मनोनुकृति की कुछ कविताएँ उल्लेखनीय हैं—

कालचक्र, मन के बंधन, तराजू, सातवाँ द्वार, पहचान, मेरा द्वन्द्व, पड़ाव (चित्र संदर्भ) मैंने अपनी लाश अपने कंधों पर ढोई है। कर्मण्येवाधिकारस्ते, स्थिरता ही पलायन है (गतिशीलता ही जीवन), राह (मृत्यु बताये जीवन क्या है/ जो मरता है वही अमर है)।

''बिहान'' शीर्षक कविता सबसे लम्बी कविता है जिसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है - *है बदल रही विद्या/ बदल दो अब विधान/ लो आ गया बिहान।* असमंजस *(इन्दुधनुष की ललक दिखाती/ इन्द्र-मुखी हो उठने वाली)*, अर्थहीन स्पंदन *(एक बिन्दु ही केन्द्र बनाता/ सूक्ष्म कणों की स्वयं परिधि में/ सभी बँधे है एक बिन्दु से/ ज्योति बिन्दु को कहाँ दिखाऊँ)* निरुत्तर *(चुनौतियों का हुंकार/ क्या सो गया पुरुषार्थ)*, 'नियति *(पर कृति अब पूजित हो/ स्रोत भूल जाती है/ कृति-वात्सल्य की/ मृत्यु हो जाती है)*, 'नया क्षितिज' *(हर व्यक्ति का अपना अलग आकाश होता है/ वही सीमा, वही संतुष्टि का आभास होता है/ भित्तियों पर चित्र पहले से बने हैं/ उन भित्तियों का रूप परिवर्तन करें हम)* अर्पण *(गीत है अर्पण तुम्हें/ यह अर्चना के फूल जैसा/ ज्यों सुधा बरसे सुधाकर से/ कहीं से तृप्त होकर)*, 'आमंत्रण' *(अंतर्मुख हो, फिर खुल जाओ/ उनको लय-स्वर में समेटकर खुद बस उनकी ध्वनि बन जाओ.../ बंजारा मन की मति-गति स्वर, जब मुखरित ही गीत सुनाओ)*, 'क्रम' *(लगता है किसी कृष्ण की तलाश में/ यह क्रम बार-बार आता है)* 'धुँआ' *(करें उसका शव-विच्छेदन/ उसकी अंतड़ियों का शोधन/ और ढूंढ़े कोई उपचार/ ताकि कोई न मरे बेघर-बार)* 'रक्त-बीजों से उठी लौ'...में भी केवल राख देखी।

श्री त्रिपाठी जी की 'अंतर्मन' शीर्षक कविता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'शेष' *(व्योम में सागर-सुतों का गड़गड़ाना शेष है)* 'ममता' *(जब पकी ईंटों पर आई/ वही बूँद, बूँद-बूँद छितराई/ ममता भी कभी रूप बदलती है)*, वेदना के स्वर *(आवरण भी ढँक न पाये/ घाव रिसते)*, लक्ष्य *(सत्य भारत देश का जीवन, सदा दर्शन रहा है)* 'आकांक्षा' *(दिल सिकुड़ा है जैसे छुई-मुई के पात/ रात मृत्यु से आलिंगन है/ दिन*

जीवन की चाह) अनजानी राह *(कातर नयनों की मैन पढ़ ली थी भाषा)*

भाषा के संदर्भ में त्रिपाठी की सजगता सराहनीय है। उनकी कविताओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर अनेक कवितांश और अनेक पंक्तियाँ स्मरणीय सिद्ध हुई हैं। उनका व्यापक जीवनानुभव छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की कविताओं में समाहित दिखाई देता है।

श्री त्रिपाठी देश-विदेश की काव्य-चेतना से जुड़े रहे हैं। विदेशों की काव्य-गोष्ठियों में वह सम्मिलित हुए, जहाँ अन्य भारतीय कवि व कवयित्रियाँ भी उपस्थित थीं।

''मनोनुकृति'' शब्द मुझे 'असाधारण' लगा किन्तु कवि की पहचान के रूप में मुझे स्वीकार्य है। मन से ऊपर उठकर अनुकृति का वृहत्तर रूप उनके काव्यानुभव को अधिक गरिमा प्रदान करे, यही मेरी आकांक्षा है।

डॉ० जगदीश गुप्त

वासंती गीतों की लय

अनुशासन और संवेदना व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करने वाले अवयव है। इनमें संस्कारों के साथ-साथ दृष्टि की व्यापकता सन्निहित होती है जो व्यक्ति की मेधा को निरंतर-मुखर बनायें रखने का कार्य करती है। प० केशरी नाथ त्रिपाठी के व्यक्तित्व और कृतित्व का आकलन करते समय उनकी इस स्वीकारोक्ति को सदा ध्यान में रखना होगा कि 'अनुशासन और संवेदना तो मुझे गुरुकुल और पितृकुल से अपने शैशव मे ही मिली।' मैंने उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को सन्निकट से देखने और उनकी रचनाओं को समझने का ईमानदार प्रयास किया है। दोनों ही अद्भुत हैं। यह कहना कठिन है कि कौन सा पक्ष अधिक प्रभावित करता है! उनकी कविताएं बोलती हैं, साथ-साथ बतियाती चलती हैं। रचना समाप्त होने के बाद भी पाठक को लगता है कि अभी वह पूरी नही हुई। उसे अधूरी या अपूर्ण कहना भूल होगी। उसमें उत्सुकता बढ़ाने के विशिष्ट गुण होते हैं। पाठक-श्रोता की यही विह्वलता रचना को पूर्णता प्रदान करती है। कवि की संवेदना उसकी रचनाओं में साकार हो उठे, यह बड़ी उपलब्धि है। त्रिपाठी जी की रचनाओं का यही वैशिष्ट्य है।

केशरी नाथ त्रिपाठी की रचनाओं में विविधता के बावजूद एक ऐसा सारतत्व निहित रहता है जो भावों को जीवंत करता चलता है। इसी कारण रचनाओं के प्रति बरबस अनुराग पैदा हो जाता है। वे कहते भी हैं :

> संवेदनाओं के तार ऐसे नहीं बजते
> गीतों के स्वर ऐसे गुंजन नहीं करते
> कहीं कुछ पीड़ा तो हो,
> या कहीं अपनापन
> कहीं छूने को तो हो
> कोई कुंवारा सा मन।

कवि जब तक 'मन को छूने' का उपक्रम नहीं करेगा, उसकी रचना सार्थक कैसे होगी? वस्तुतः सार्थकता 'कुंवारे मन' से जुड़ी होती है। जो लोग साँसों का हिसाब लगाने में अपना श्रम गँवाते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि,

> जिन्दगी कुछ दिवस का ही योगफल केवल नहीं

कर्म की अनुभूति है यह, शर्त पर चलती नहीं
है जहां हर पल स्वयं में, पूर्ण इक अध्याय सा
कई सोपानों की गाथा अभी गढ़ना शेष है।

कवि का धर्म है जागृति पैदा करना, समाज को तथ्यों से अवगत कराना। केशरी नाथ त्रिपाठी इस दायित्व को निभाने में रंचमात्र भी पीछे नहीं हैं। अविश्वास, संशय, अविवेक, अनाचार जैसे विकारो के बढ़ते खतरे के प्रति भी वे सचेत हैं:

अभाव से ग्रस्त
व्यथा से अभिशप्त
व्यवस्थाओं से त्रस्त
जब अभिलाषाएं मर जाती हैं
तब अच्छा नहीं लगता
मुंडेर पर बैठा हुआ कौआ
मैं खुद समझ जाता हूँ
कैसे हव्वा हुई हौआ।

त्रिपाठी जी विसंगतियों का कारण बताने में कोई संकोच नहीं करते। कर ही नहीं सकते, उनके भीतर बैठा विवेचक उन्हें चैन नहीं लेने देगा। उनका अंतर्मन अकुला कर कहता है:

मानव और दानव में
अब रूप भिन्नता नहीं
एक अंतर शेष—
किसकी खाल मोटी!

विधिवेत्ता के रूप में न्याय-जगत, विधान सभाध्यक्ष के रूप में विधान और प्रतिनिहित विधायन सहित समाज को जो पल-पल निकट से देखता हुआ उनमें व्याप्त विसंगतियों के बीच जी रहा हो उनसे कैसे मुंह फेर सकता है। केशरी नाथ त्रिपाठी इसीलिए अपने नैतिक दायित्व का निर्वाह करते हुए कहते हैं:

साँस में बसने लगी हैं, भ्रांतियां अब
द्वेष की मिलती यहाँ सौगात देखी

. . . .

इधर से भी, उधर से भी आ रहे इंसान ज्यों बुत
चौ-डगर पर मर्महीनों की अचंभित भीड़ देखी

. . . .

ज्ञान के कोषों में संचित एक मनु था- मार डाला

रक्तबीजों से उठी लौ में भी केवल राख देखी
अब अंधेरा भी बहुत खलने लगा है
संशयों के स्वप्न में भयभीत सी जब रात देखी।

त्रिपाठी जी गंभीर रचनाओं के साथ-साथ वर्तमान परिवेश की अन्य धाराओं के साथ चलने वाली कविताएं लिखने में भी रुचि लेते हैं। उनका कहना है—

क्षितिज के उस पार देखें क्यों अभी हम
अभी तो इस पार का जीवन बहुत अवशेष है।

. . . .

दिव्य रूपा यह धरा, यह सृष्टि, अम्बर
पुष्प, पल्लव, तरु, शिला, निर्झर, सरोवर
कूल पर सरिता के, कुंजन-वीथियों में
प्रीत के गीतों का मेरा गुनगुनाना शेष है।

त्रिपाठी जी ने अभी गुनगुनाना शुरु ही कहां किया! उनकी रचनाओं की ओर जब ध्यान जाता है तो मलाल होना स्वाभाविक है कि कवि-हृदय की इस चुप्पी का रहस्य क्या है! जहाँ कविताओं का दौर थमने का नाम न ले रहा हो, वहाँ केशरी नाथ जैसे पुरोधा उंगलियों पर गिनने भर की कविताएं रचें तो विचित्र लगना स्वाभाविक है। वे 'अरसिक' भी तो नहीं हैं जो 'कवित्त-निवेदन' न कर सकें! वे 'स्वयं की संतुष्टि की सीमा बहुत बड़ी/ जिन्दगी बहुत बड़ी नदी' कहते हुए आमंत्रण देते हैं:

मेरे वासन्ती गीतों की
लय में तुम भी अब रम जाओ
कोई भी संकोच अगर हो
अन्तर्मुख हो, फिर खुल जाओ।

दायित्वों के निर्वहन और कर्तव्य-पालन में झंझावातों से बाधाएं पड़ सकती हैं लेकिन उनसे जूझना तो पड़ेगा ही। दायित्व-बोध ही रचना-धर्मिता का प्रमाण होता है। विसंगतियों को सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टि से देखने वाला साहित्यकार ही उन्हें उकेर सकता है। केशरी नाथ जी इसके लिए तैयार हैं। उनकी यह हुंकार साक्षी है:

आओ करें उसका शव-विच्छेदन
अँतड़ियों का शोधन
और ढूढ़ें कोई उपचार

विद्रूपताओं के शव-विच्छेदन और उपचार ढूँढ़ने में नयी पीढ़ी को

साथ लेकर चलना होगा। निवर्तमान पीढ़ी को अपनी ऐसी स्थिति को स्वीकार करना होगा कि,

तन्द्रा को तोड़ कर
निद्रा को छोड़ कर
जब मैं खड़ा होता हूँ
तो सुनहरे मृगछौनों की भीड़ में
मेरा गाण्डीव खो जाता है
शायद किसी कृष्ण की तलाश मे
यह क्रम बार-बार आता है।

पीढ़ियों के अंतर की स्वीकारोक्ति ऐसी विभ्रम की स्थिति मे उबरने का मार्ग प्रशस्त करती है। तभी तो त्रिपाठी जी कहते हैं.

आओ, हम बुड्ढे और बुढ़िया
घर की दहलीज मे ही
हर सुबह के सूरज में
देखें नये गुड्डे और गुड़ियों का खेल।

यह पलायन नहीं, संक्रमण से उबरने का ठोस सुझाव है। विविध क्षेत्रों की असंगतियों की अनदेखी नहीं की जा सकती। केशरी नाथ त्रिपाठी न्यायपालिका, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के साथ ही मीडिया की गतिविधियों के चश्मदीद गवाह हैं। उन्हें विशेषाधिकारों के अलावा विवेकाधिकार भी प्राप्त हैं। एक राजनेता, समाजसेवी, विधिवेत्ता और अंततः साहित्यकार होने के नाते उनसें असीमित अपेक्षाएं की जाती है। उनकी रचनाओं में ओज, माधुर्य और हास्य-व्यंग्य के तीखे पुट भी है। उन्हें किसी एक रस का ही प्रणेता कहना संगत नहीं होगा, वे सही अर्थों में साहित्यकार हैं, ऐसा साहित्यकार, जो देश, काल और परिवेश के साथ तालमेल बिठा कर चलता है, जो नैराश्य के क्षणों में भी आशा के संदेश देता है।

रचनाकार की पृष्ठभूमि उसके कथ्य-रूप को संवारती है। उसके चिंतन को पूर्णता प्रदान करती है और शब्दों, भावों एवं कल्पनाओं के माध्यम से एक ऐसा रूप बनाती है जो यथार्थ का द्योतक होता है। कच्ची मिट्टी से लेकर उससे निर्मित वस्तुओं तक को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुए रचना में पिरोते जाना दुरुह तो होता है, पर असम्भव नही। त्रिपाठी जी 'बंद वातायन' को व्यापक हित में खोलने का प्रयास करते है। उनका 'लक्ष्य' भारतीय मनीषा के शाश्वत चिंतन को नये अर्थ में स्थापित करना है।

हिन्दी काव्य-जगत में 'लक्ष्य' एक ऐसी रचना है जिसमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'जीवेम् शरदं शतं', 'सत्यं शिवं, सुन्दरम' और 'सत्यमेव जयते जयम्' महामंत्रों को प्रयुक्त करके सम्पूर्ण भारतीय वाङमय की अंतरात्मा को उरेहा गया है। इसे एक ऐसे प्रयोग के रूप में भी देखा जा सकता है जो साहित्य को सही अर्थों में प्रतिष्ठापित करता है। 'लक्ष्य' में सद्-असद्, विवेक-अविवेक, विश्वास-अविश्वास, दुःख सुख जैसे अनेकानेक सिक्कों के दोनों पहलुओं को एक साथ रख कर मानवीय मूल्यों को प्रतिविम्बित किया गया है।

इसी तरह 'आकांक्षा' में एक ऐसे व्यक्ति की मनोदशा का चित्रण है जो अपने और पराये की पहचान दिन और रात के अंतर के रूप में करता है। उसके लिए *'राई ऐसा दिन होता है, पर्वत ऐसी रात'। अपने मन से बातें होतीं, अपनों की ही बात।'* मनुष्य को एकाकीपन बहुत खलता है। उसके सामने अतीत और वर्तमान की सभी खट्टी-मीठी याद कुछ इस तरह प्रस्तुत होती हैं जो हंसाने-रुलाने के साथ सुलाने का भी काय तो करती हैं, पर उसकी मनोदशा संतुलित नहीं रह पाती। वह साझ और सबेरे के व्यूह में उलझ कर रह जाता है—

पर अस्ताचल जब हो सूरज
चौपड़ पर जैसे हो मात
दिन सिकुड़ा है ऐसे जैसे
छुई-मुई के पात।

ऐसे व्यक्ति का जीवन विचित्र पहेली बन जाता है। उसकी 'आकांक्षा' धरी की धरी रह जाती है क्योंकि

मकड़जाल आकांक्षाओं के
कागज की बेडोर पतंगें
अंत समय के स्वप्न यों बिखरे
ढाक के जैसे तीनों पात।

जीवन को निकट से देखने वाला साहित्यकार अपनी रचनाओं के प्रति अधिक ईमानदार होता है। वह शब्दजाल फैला कर कोई ऐसा चित्रांकन नहीं करता जिससे पाठक-श्रोता को दिग्भ्रमित होने के बाद का क्लेश सहना पड़े, वस्तुतः उसकी रचना यथार्थ को ही उद्घाटित करती है। कहीं प्रतीकों से तो कहीं बिम्ब-प्रतिबिम्ब के माध्यम से वह वस्तुस्थिति को जस का तस सामने रख देता है। त्रिपाठी जी 'मानवी द्वार' में वर्तमान विकृतियों को उकेरते हुए कहते हैं—

जाति, वर्ग, सम्प्रदाय
यह भी हैं सुभद्रा के उदर
. . . .
ढूँढ़ना है तो ढूँढ़ो
देश की माटी को
इसकी परिपाटी को
माटी की सुगंध को
मानव से मानव के
टूटे सम्बन्ध को
और उसमें जोड़ो
संस्कृति और संस्कार
फिर अपने आप टूट जायेगा
चक्रव्यूह का सातवां द्वार।

त्रिपाठी जी ने अपनी रचनाओं में ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो भारतीय ग्रामीण परिवेश को मूर्तिमान करते हैं। वे मात्र शब्द न हो कर प्राचीन भारत की वास्तविक पहचान कराते हैं। आज की ग्रामीण और शहरी जिंदगी के दो पाटों के बीच फँसे मूलतः गाँवों का होने के बावजूद अधिसंख्य लोग अपनी ही परम्पराओं को भुला बैठे हैं। 'बिहान' एक ऐसी रचना है जिसमें सम्पूर्ण भारतीय ग्रामीण जीवन-दर्शन समाहित है। शब्द, अवधारणा और रेखांकन व्यापक फलक पर असली भारत को चित्रित करते हैं। 'लो आ गया बिहान' निश्चय ही ऐसी रचना प्रमाणित होगी, जो प्रकृति और ग्राम्य-जीवन के प्रखर चितेरों तक को सोचने के लिए विवश कर देगी।

'बिहान' में गाय का राँभना, पखेरु का पंख फड़फड़ाना, मुर्गे की बॉग, ओस सिंची भूमि, नीम की दातौन, कपड़ा फींचना, पलेवा, गदेलुवा का कलेवा, मुंडेर पर बैठा कागा, कुदाल, खुरपी, चरखी, कोल्हू, नार, रहट, कोठिला, हुक्का, इक्का, गंड़ास, कुट्टी काटना, सुतुही, पहुसुलि, मूसल, चकरी, जांता, रंदा, बरेठा, गोबर की टीप, कठौता, कंडी, उपली, दीवट, चिरौंटा, कजरौटा, जामा-जोड़ा, गोइयाँ आदि का प्रयोग एक ही रचना में होने से एक गाँव की पूरी जीवन-पद्धति को दस्तावेज के रूप मे सामने ला देता है। 'बिहान' में रचनाकार ने अपनी अद्भुत साहित्यिक प्रतिभा और क्षमता का परिचय दिया है।

केशरी नाथ त्रिपाठी प्रकृति के 'सुकुमार' और जीवन के 'यथार्थ' को समान रूप से देखते हैं। उनकी रचनाओं में करुणा है तो उसी के साथ नवोन्मेष का स्वर भी है विविध विषयो पर लिखी गयीं कविता

जिस पक्ष को उठाती हैं उसे शीर्ष तक ले जाती है। भावाभिव्यक्ति में कहीं व्यवधान नहीं आने पाता। इसीलिए रचनाएं और सशक्त बन जाती हैं।

'मनोनुकृति' में संकलित रचनाएं केशरी नाथ त्रिपाठी के चिंतन, मनन और व्यक्तित्व के अनछुये पहलुओं को भी उद्घाटित करती हैं। उन्हीं के शब्दों में उनकी इस प्रथम कृति का स्वागत है —

शैल शिखरों से मुखौटे सागर तलों में धंस गये
और बौने आदमी सर्वत्र प्रचलित हो गये
नये युग के आदि का आह्वान करने के लिए
एक मानव का अभी निर्माण करना शेष है।

आशा और विश्वास है कि त्रिपाठी जी हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करने में कोताही नहीं करेंगे।

डॉ० जगदीश द्विवेदी
कार्यकारी सम्पादक
अमृत प्रभात

कैसे, क्यों?

'मनोनुकृति' मेरा पहला रचना संग्रह है। इसमें कविताएँ हैं या कुछ और, मैं नहीं जानता। मेरी दृष्टि में हर व्यक्ति कवि है। मनोभावों को सँजोकर रख दिया, कविता हो गई। जो ऐसा नहीं कर सका, वह कवि नहीं है। मैं कवि नहीं हूँ। बस, जो भाव मन में आया, लिख दिया। मूल्यांकन तो कोई दूसरा ही करेगा।

मुखरित अकुलाहट में पंक्तियाँ अनायास, बिना प्रयास अपने आप ही बढ़ती हैं। पर इनमें अवरोध भी होता है। वही कठिन क्षण है। वही लेखनी रुककर मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की तलाश करती है। भावों का प्राकृतिक प्रवाह जब अवरुद्ध होता है तो कृत्रिमता आती है। मैंने इन क्षणों का अनुभव किया है।

विचारों के झंझावात कहीं तो थमेंगे। पर जब उसकी गति तीव्र हो तो उसे रोकना सामान्यतया संभव नहीं होता। मेरी रचनाओं की विविधता की यही कहानी है। मैं एक विधा में नहीं बँध सका। मन की स्वच्छन्दता उच्छृंखल हुई तो कई रूप प्रकट हुए। कुछ बँधे, कुछ बहे।

छात्र जीवन में अंत्याक्षरी में भाग लेता था। कविता के प्रति रुझान तभी से प्रारम्भ हुई। बच्चन जी की 'मधुशाला' उस समय छात्रों मे बहुत लोकप्रिय थी। मन कहता था कि मैं भी कुछ ऐसा लिखूँ कि मेरी कविता भी लोगों की जिह्वा पर हो। 'मधुशाला' की पैरोडी बना कर 'विजयाशाला' के नाम से बीस-पच्चीस छंद एक कापी में लिखे। पिता जी बिगड़े तो सिट्टी-पिट्टी गुम और कापी गायब।

समय के अन्तराल का प्रवाह। सब कुछ भूल गया। राजनीति मे पहले आया, अधिवक्ता बाद में बना। दोनों में व्यस्तता बढ़ी। फिर भी कुछ-न-कुछ लिखता रहा। कभी एक कानून की पुस्तक और कभी छुटपुट कविताएँ। किताब प्रकाशित हुई, उत्साह बढ़ा। रचनाएँ लगभग सभी खो गई। वकालत और राजनीति से फुरसत ही कहाँ?

व्यक्ति के भीतर का कवि कभी मरता नहीं। 1991 में पहली बार उत्तर प्रदेश विधानसभा का अध्यक्ष हुआ तो उद्घाटन तथा

अन्य कार्यक्रमों में कई कवियों तथा साहित्यकारों के सम्पर्क में आया। लेखनी फिर चल पड़ी, पर शनैः-शनैः। एक-दो कवि- गोष्ठियो मे अपनी कुछ पंक्तियों को भी सुनाया। किसी ने मन से सराहा तो प्रोत्साहित हुआ। कुछ ने व्यंग्य से कहा कि मैं भी कवि हो गया। चुनौतियो ने मुझ कभी हताश नहीं किया बल्कि संघर्ष- शक्ति ही दी है। थोड़ा-बहुत लिखता ही रहा। सुनाता भी रहा, कभी संकोच से तो कभी उदात्त मन से।

अप्रत्याशित होना ही आश्चर्य का लक्षण है। निमंत्रण मिला कि मैं सितम्बर, 1998 में इंग्लैंड में 'हिन्दी समिति, यू०के०', 'गीतांजलि' तथा 'अहिंसम् भारतीय' द्वारा आयोजित कवि- सम्मेलनों में अध्यक्षता करूँ और काव्य पाठ भी। मन में अजीब सा संकोच था। फिर भी गया। बोल्टन (मैनचेस्टर), बर्मिंघम तथा लन्दन में कवि-सम्मेलनों मे या तो अध्यक्ष रहा या मुख्य अतिथि। पर खुलकर काव्यपाठ किया। सर्वश्री सोम ठाकुर, जगदीश चतुर्वेदी, दिविक रमेश, विक्रम सिंह, डॉ० सुनीता जैन, श्रीमती कुसुम अंसल, डॉ० कमल कुमार, श्रीमती मंगेश लता श्रीवास्तव 'लता श्री', डॉ० राज कुमार, डॉ० दाऊ जी गुप्त, 'हुल्लड' मुरादाबादी आदि भी साथ में थे। उन्होंने तथा प्रवासी भारतीयो, विशेषकर डॉ० कृष्ण कुमार, डॉ० आर०एस० सुमरा, पद्मेश गुप्त, उषा राजे सक्सेना, प्रो० इन्द्रनाथ चौधरी आदि ने रचनाओं की सराहना की तो उत्साह और आत्मविश्वास दोनों ही बढ़ा।

भारत वापस आने पर अनेक साहित्यिक संस्थाओं, कवि-सम्मेलन व कवि-गोष्ठियों में भाग लेने के निमंत्रण मिले। राजनीतिक रूप कुछ पीछे हटा, कवि-स्वरूप कुछ सामने आया। मित्रों ने सुझाव दिया कि रचनाओं को पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया जाय।

'मनोनुकृति' आपके सामने है। सामान्य बोलचाल की भाषा मे शब्दों का अर्पण।

भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की अपनी विशिष्टता है। समाज मे व्यापक रूप से प्रचलित कुछ सूक्तियाँ हमारे आदर्श तथा सामाजिक मान्यताओं की प्रतिबिम्ब हैं। इन्हें कहीं-कहीं पिरोने का साहस मैंने किया है। समालोचक या शोधकर्ता ही बतायेंगे कि क्या यह कविता में कोई नया प्रयोग है?

जैसे मनुष्य की आत्मा होती है वैसे ही कविता की। यह कभी एक शब्द में प्रकट होती है, कभी पंक्ति-पंक्ति में। मेरी रचनाओं में कहीं आत्मा की ध्वनि गुंजित हो तो मैं उसे सार्थक मानूँगा।

सुधा— जैसा नाम वैसा गुण। यह मेरी पत्नी का नाम है। पंक्तियों की सराहना का आदि वही हैं। अभिव्यक्ति की अपूर्णता, शब्दों की उपयुक्तता, सार्थकता या निरर्थकता और कहीं परिमार्जन की आवश्यकता - यह सब इंगित करने का कार्य भी उन्होंने किया। कुछ रचनाओं की गेयता का स्वरूप दिखाकर मेरी प्रेरणा भी बनीं और आलोचक भी। यह कोई ऋण नहीं, सहकार्य था। कैसे आभार प्रकट करूँ, समझ में नहीं आता।

हिन्दी साहित्य के अनेक मर्मज्ञ स्नेहियों एवं वरेण्य रचनाकारों ने इन रचनाओं के प्रति सजग आत्मीयता प्रदर्शित की। जीवन के ऊहापोह में इस प्रेरणा ने भी अवसर निकालकर कविताओं को 'मनोनुकृति' के रूप में प्रस्तुत करने का पथ दिखलाया। मैं उन सभी साहित्यिक मनीषियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। कुछ लोगों के नाम अवश्य लेना चाहूँगा, जिनमें सर्वप्रथम विद्वान् कवि 'भारत-भारती' से अलंकृत डॉ० जगदीश गुप्त, पद्मश्री गोपालदास 'नीरज', पद्मश्री रानी रामकुमार भार्गव, श्री सोम ठाकुर, श्री गजेन्द्र नाथ चतुर्वेदी, डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक', श्री गंगारत्न पाण्डेय, डॉ० चन्द्रिका प्रसाद शर्मा, डॉ० दाऊ जी गुप्त, डॉ० सुनीता जैन, 'हुल्लड़' मुरादाबादी, चन्द्रशेखर मिश्र, श्री प्रभात शास्त्री, श्री श्रीधर शास्त्री, डॉ० सन्त कुमार, पं० राजाराम शुक्ल, पं० रामलखन शुक्ल, डॉ० सुषमा सिंह, देवेश जी तथा श्रीमती अल्पना तलवार की सदाशयता के प्रति अपनी कृतज्ञता अवश्य ज्ञापित करना चाहूँगा।

श्री नरेश कात्यायन एवं श्रीमती मंगेश लता श्रीवास्तव 'लता श्री' ने इस कृति की प्रकाशन प्रक्रिया में अपना सहयोग दिया, उन्हें मेरा स्नेहिल आशीष।

पुस्तक की भूमिका लिखकर प्रख्यात साहित्यकार एवं चित्रकार 'भारत भारती' डॉ० जगदीश गुप्त एवं विद्वान् साहित्यकार एवं पत्रकार डॉ० जगदीश द्विवेदी कार्यकारी सम्पादक, अमृत प्रभात, ने अपने आत्मीय अनुराग का योगदान किया है। शांति प्रकाशन,

इलाहाबाद, ने इसे प्रकाशित कर मेरे भावों को लोकमानस तक पहुँचाने का श्लाघनीय कार्य किया है। सभी के प्रति मेरा हार्दिक आभार।

कृति आपके हाथ में है। इसका कोई शब्द, कोई पंक्ति अथवा कोई विचार आपके हृदय को स्पर्श कर गया, कुछ आनन्द या चिन्तन की भूमिका बना सका तो मेरा प्रयास सार्थक हो जायेगा।

मैं तो इतना ही कहूँगा कि—

"अक्षर-अक्षर भाव भरे सागर से गहरे
शब्द सँजोकर मन से निकले गीत हो गये।"

केशरी नाथ त्रिपाठी

क्रम

पड़ाव
निष्ठुर
कर्मण्येवाधिकारस्ते
विद्रोही
चरैवेति
राह
नारी
बिहान
अभिलाषा
असमंजस
अर्थहीन स्पन्दन
वानप्रस्थ
स्वप्न
निरुत्तर
खंडित भारत
प्रेरणा
नियति
जिन्दगी
नया क्षितिज
दिशाहीन
अ-योद्धा
गतिवान
कर्तव्य-बोध
विरागी मन
श्वास
क्षुधित
'वन्दे मातरम्' हम गायेंगे
विडम्बना

जन्म
शिक्षा
कार्यक्षे
न्याय
राजनी

अर्पण

गीत है अर्पण तुम्हें
यह अर्चना के फूल जैसा

शब्द मुखरित हो रहे हैं
भाव की अभिव्यक्ति बनकर
ज्यों सुधा बरसे सुधाकर से
कहीं मैं तृप्त होकर

लो तुम्हीं को
यह तुम्हारे
शब्द अर्पित
भाव अर्पित।

■

आमंत्रण

मेरे वासन्ती गीतों की
लय में अब तुम भी रम जाओ
थोड़ा भी संकोच अगर हो
अन्तर्मुख हो, फिर खुल जाओ

मलय वायु के सुमधुर झोके
जब-जब तन को छूने आयें
उस सिहरन को खुद समेट कर
अपने को चिह्नित कर जाओ

अन्तर्मन के स्पन्दन जब
शब्दों में मुखरित होने हों
उनको लय-स्वर में समेट कर
खुद बस उनकी ध्वनि बन जाओ

विस्तृत गगन तले का जीवन
चिन्तन, बन्धन रहित रहे जब
बंजारा मन की मति, गति, स्वर
जब मुखरित हो, गीत सुनाओ।

■

क्रम

सात घोड़ों पर सवार
वह रोज आता है
और चला जाता है
उजाला अँधेरे में
अँधेरा उजाले में
समा जाता है
पूछा यह सवाल
कल के सवेरे से
कि आने और जाने का यह क्रम
क्यों चला आता है ?

यह संघर्ष है, या पलायन परस्पर
धुरी पर धरा हो, या हो दिवाकर
रुकता नहीं, यह चलता निरन्तर
मुझे भी सुनाता, दिखाता, बुला कर
कैकेयी का हठ और सीता का क्रन्दन
शय्या शरों की, गीता का दर्शन

तन्द्रा को तोड़ कर
निद्रा को छोड़ कर
जब मैं खड़ा होता हूँ
तो सुनहरे मृगछौनों की भीड़ में
मेरा गांडीव खो जाता है
शायद किसी कृष्ण की तलाश में
यह क्रम बार-बार आता है।

धुआँ

धुआँ
कहीं का हो
चिता का या चूल्हे का
जलन की पीड़ा है
पर भूख की आग
पेट को जलाती है
धुआँ नहीं बनाती।
कभी घर से बेघर
कभी लावारिस बनाती है
जिसका चूल्हा नहीं होता
उसे चिता नहीं जलाती
नियति उसकी लाश को
नदी-नाले में बहाती है।

तो आओ, करें उसका शव-विच्छेदन
उसकी अँतड़ियों का शोधन
और ढूढ़ें कोई उपचार
ताकि कोई न मरे बेघर-बार।

■

अंतर्मन

खोये से मन की आँखों की नमी
कहीं ठौर नहीं, बस कोहरा बन थमी
धुँधली आकृतियों में
ढाढ़स की भीड़ में
अन्तर्मन कैसे बोले
कहाँ छिपी कोई नागफनी।

धरती का सच
नीले आकाश से भी गहरा
प्याज के छिलके सी झूठ की परतें
करती सत्य-बीज पर पहरा
सिक्के के पहलू-सा द्विभाषी जीवन
किसे पता, कौन असली कौन नकली।

संवेदनाओं के तार ऐसे नहीं बजते
गीतों के स्वर ऐसे गुंजन नहीं करते
कहीं कुछ पीड़ा तो हो,
या कहीं अपनापन,
कहीं छूने को तो हो
कोई कुँवारा सा मन।

■

रहस्य

आज निस्पृह हूँ मगर
सम्बन्ध कल तो जोड़ लूँगा
कर पराजित काल को फिर
अनत में विचरण करूँगा।

मौन मेरा क्यों किसी के
हृदय में करता है कम्पन
मै हठी किंचित् नहीं
यह अन्त पर है मौन चिन्तन।

दृश्य होता है नहीं, पर
मार्ग-अनुसंधान है यह
आह्वान प्रेरक विन्दु का है
शक्ति स्वर संधान है यह

सृजन, फिर संहार क्यों
कैसा नियम, किसके लिए
कौन है इसका नियंता
प्यास यह किसके लिए?

ध्वनि है अन्तर्मन में गुंजित
शब्द के भंडार भी है
स्वर नहीं तो शब्द में
इस भेद को मैं भेद लूँगा।

आज निस्पृह हूँ मगर
सम्बन्ध तो कल जोड़ लूँगा।

■

रक्त बीजों से उठी लौ.... ।

ढल रही वह शाम, जिसने धूप देखा, प्रातः देखी
थक गई वह आँख जिसने मीत देखा घात देखी

युग-युगों में प्रहर तो बीते बहुत से
स्नेह का धागा कभी टूटा नहीं था
किसी पर कुछ था, किसी पर कुछ नहीं
एक माटी, एक निष्ठा, पास में इतना बहुत था

साँस में बसने लगी हैं भ्रान्तियाँ अब
द्वेष की मिलती यहाँ सौगात देखी

गम्य या अगम्य या दुर्गम्य क्या है, कौन बोले?
जन्म क्यों है, लक्ष्य क्या है, किस डगर पर कौन डोले?
चमत्कारों की प्रतीक्षा में इकट्ठे उठ गए कर
अंक की गणना बढ़ी, तो है विलोपित बुद्धि के स्वर

इधर से भी, उधर से भी, आ रहे इंसान ज्यों बुत
चौ-डगर पर मर्महीनों की अचंभित भीड़ देखी

वह किरण कैसी जो तम मे डूब जाती
स्वत्व को अपने स्वयं प्रश्नित बनाती
अनहोनियो मे आस्था को गेपती, विविध कथाए
भूलती हर वात वह, जो सत्य का दर्शन कराये

ज्ञान के कोषों में संचित एक मनु था, मार डाला
रक्त वीजों से उठी लौ में भी केवल राख देखी

अब अँधेरा भी वहुत खलने लगा है
संशयों के स्वप्न में भयभीत सी जब रात देखी।

■

अंतर

माटी की दीवार पर
टपकता हुआ छप्पर
इसे महल कहें या मड़ैया
यह स्थिति का अन्तर।

साँचे में ढली, पकी, मिट्टी
महलों और अटारियों में
जब चुन जाती है
उसकी सुगन्ध खो जाती है।

मिट्टी की मिठास
मधुर सम्बन्धों की प्यास
आधुनिक परिवेश में
बस 'हलो' बन जाती है।

जहाँ रिश्ते तो बनते हैं
पर अपनापन पराया है।

■

शेष

क्षितिज के उस पार देखें क्यों अभी हम
अभी तो इस पार का जीवन बहुत अवशेष है।

नयन खुलते ही मिला, आँचल जो उसके स्नेह का
'जीवेम शरदः शतं' गुंजन है जिसके नेह का
आशीर्वचन की उस किरण का प्रस्फुटन बन
अंक में माँ के अभी तो कुलबुलाना शेष है।

दिव्य रूपा यह धरा, यह सृष्टि, अम्बर
पुष्प, पल्लव, तरु, शिला, निर्झर, सरोवर
कूल पर सरिता के, कुंजन-वीथियों में
प्रीत के गीतों का मेरा गुनगुनाना शेष है।

शेष है अंगार पथ पर झूम कर चलना अभी
और दहकते होठ से है प्यार का बहना अभी
स्नेह का वर्षण करे जो प्रेम का सिंचन करे
व्योम में सागर-सुतों का गड़गड़ाना शेष है।

जिन्दगी कुछ दिवस का ही योगफल केवल नहीं
कर्म की अनुभूति है यह, शर्त पर चलती नहीं
ह जहाँ हर पल स्वयं में, पूर्ण इक अध्याय सा
कई सोपानों की गाथा अभी लिखना शेष है।

शल शिखरों मे मुखौटे, सागर तलों में धँस गए
ओर बौने आदमी सर्वत्र प्रचलित हो गए
नये युग के आदि का आह्वान करने के लिए
एक मानव का अभी निर्माण करना शेष है।

■

ममता

वादलों की वेटी
वर्षा के झूले पर
धरती पर आई
कच्ची माटी के आँगन मे
पोर पोर समाई।
पर वदले रूप में
वडी ही इठलाई
जव पकी ईटों पर आई
वही वूँद,
वूँद-वूँद छितराई।

ममता भी कभी रूप वदलती है
कभी शालीन कभी उन्मुक्त होती है
उसकी गाथा उसके मिलन पर
उसकी अनुभूति होती है।

■
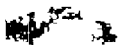
बंद वातायन

बंद वातायन सभी खुल जायँगे
गीत मेरे गूँज कर कह जायँगे

जो उबासी, जो उदासी, जो घुटन थी कैद में
शक्ति उसके क्षरण की थी न किसी भी वैद्य में
ले प्रलय को हाथ में हम फिर चलेंगे
अग्नि पथ पर पाँव फिर से बढ़ चलेंगे
विप्लवी स्वर सिंह गर्जन फिर करेंगे
फड़फड़ाते होंठ जब सी जायँगे

गीत मेरे गूँज कर कह जायँगे

मलयगंधी वायु के सुखमय झकोरे
साँस में भर झाँकते चंचल चितेरे
दूर उड़ता जा रहा था एक जोड़ा
मुक्ति का आभास पाकर बंध तोड़ा
शब्द मेरे बाँसुरी के स्वर बनेंगे
गुनगुनाते अधर जब खुल जायँगे

गीत मेरे गूँज कर कह जायँगे

सुरमई-सी शाम का कुछ-कुछ धुधलका
कुछ इधर से कुछ उधर से प्यार छलका
तर्जनी स दखती उस भीड़ मे
हम बसे जाकर हृदय के नीड़ में
आज पल दो पल जिये जो साथ में
मीत मेरे पल वही बन जायेंगे।

गीत मेरे गूँज कर कह जायँगे।

जन्म
शिक्ष
कार्य
न्यार
राजर

तलाश

अभी भी मुझे तलाश है
उस पेन्सिल और कापी की
जो मुझे मिली थी इनाम में
जब मैं कालेज में पढ़ता था।
साथ में मिली थी
तालियों की गड़गड़ाहट
और पीठ पर थपथपाहट,
जो बन गई मेरे लिए
मील का पहला पत्थर।

मुझे अभी भी तलाश है
उन राहों की
जो मुझे ले चलें
उसी माहौल में
जहाँ मैं तलाशूँ
उन हाथों को
जिन्होंने मुझे दी थी
तालियाँ, थपथपाहट

और आशीर्वाद
ताकि उन्हे बता सकू
कि मै कहा था
और कहाँ आ गया।

■

वेदना के स्वर

कंठ में खुशियों के स्वर आते नहीं
वेदना के स्वर निकलते हैं नहीं
सो गया जब आत्मा का सजग प्रहरी
गीत ने भी त्याग दी संगीत लहरी
मूक मन, पर शब्द थमते हैं नहीं

मीत मन है, गीत तन है, प्रीत प्रण है
प्रीत मन का आचमन, मन का सुमन है
अर्चना है साधना का एक दर्पण
आस्था से पूर्ण मन का है समर्पण
रिक्तियों के ठौर लगते हैं नहीं

सूइयों की नोंक से जो चित्र बनते
कब, कहाँ, कैसा चुभन, बस वह समझते
दे दिया आकार, केवल रूप बदला
आवरण भी ढँक न पाये घाव रिसते
वर्जना के बन्ध टिकते हैं नहीं

लालिमा हो सूर्य या सिन्दूर का
कुन्दनी काया तपी तन्दूर की
अब कहा कैसे कर रखवालियाँ
शून्य को ही देखते हैं सब यहाँ
टोहियों के पाँव थकते हैं नहीं

बिन्दु था इक, वृत्त बढ़ता जा रहा
तिमिर से तो सूर्य ढँकता जा रहा
निर्विकारों से विकारों की झड़ी
द्रौपदी इक बार फिर से है खड़ी
कोई कान्हा यहाँ दिखते हैं नहीं

हम सभी कुछ, तुम नहीं कुछ, भाव जागे
स्नेह, संस्कृति सब तजे, है स्वार्थ आगे
धर्म, गंगा, ज्ञान की सूखी त्रिवेणी
ताल, पोखर पा रहे हैं अग्र श्रेणी
इस पंक में पंकज तो खिलते हैं नहीं

व्यथा जिनके घर जमाती हृदय में
कोसते वह भाग्य को हर विषय में
चाहते उड़ना बड़े संकल्प लेकर
श्रम नहीं, कैसे छुएँ आकाश बे-पर
बिन परिश्रम चींटियों के घर भी भरते हैं नही।

■

लक्ष्य

शून्य जीवन में चलो खुशियाँ बिखेरें
हों जहाँ काँटे गुलाबी शाम दे दें
क्या करेंगे जो मिला है पास रखकर
चल न पायें जो उन्हें दो पाँव दे दें
'सर्वे भवन्ति सुखिनः'
अंशदानों मे स्वयं, जग को हम अभिनव ठाँव दे दें।

जन्म जिसने ले लिया अधिकार उसका
हम सभी से मिल बना परिवार उसका
है अकेला वह नहीं, विश्वास देकर
हम उसे अब स्नेह का, प्रतिमान दे दें
'वसुधैव कुटुम्बकम्'
सृष्टि के हर सृजन को, पूर्ण हम सम्मान दे दें।

रुग्ण शैय्या पर पड़े, जो ईश को हैं निहारते
झेलते विपदा अनेकों, हैं न हिम्मत हारते
स्वप्न जिनके आँसुओं में बह रहे हों
हों चिरंजीवी, सुखी, हम ईश का वरदान दे दें
'जीवेम शरदः शतं'
दे स्वयं की आहुति, उनको हम जीवन दान दे दें।

सत्य मद है सत्य सुख है सत्य दृढता
सत्य सम्कृति सत्य शिक्षा सत्य दीक्षा
शिव सदा कल्याण की परिकल्पना है
'सुन्दरम्' को पूर्ण हम आयाम दे दें
'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्'
सत्य से अस्तित्व को अभिमान दे दें

सत्य भारत देश का जीवन, सदा दर्शन रहा है
जो नहीं है सत्य, वह अवमान का दर्पण रहा है
सत्य चारित्रिक गुणों का स्वयं परिचय
है विकारों का पराभव, मंत्र का गुणगान कर दें
'सत्यमेव जयते जयम्'
सत्य का कर अनुसरण, जीवन को स्वर्णिम नाम दे दें

आकांक्षा

राई ऐसा दिन होता है,
पर्वत ऐसी रात
अपने मन से बातें होती,
अपनों की ही बात।

उषा बिखेरे जब जब लाली
अरुणिम मादक-सा उल्लास
नव प्रभात की हर किरणों में
अतिथि आगमन की है आस

सुमधुर यादें, सरस कल्पना
मन द्वारे पर सजी अल्पना
रोली, चंदन, अक्षत, टीका
स्वागत की पूरी संरचना

चढ़े दिवाकर ज्यों-ज्यों नभ में
जीवन की बढ़ती है प्यास
घेरे चारों ओर सुहृद हैं
ढाँढस, साहस, सुखद सुहास

प्रफुलित सा मन फिर होता है
कर अतीत की सूक्ष्म समीक्षा
जिन नयनों से सांझ विदाई
उन नयनों में प्रात प्रतीक्षा

पर अस्ताचल जब हो सूरज
चौपड़ पर जैसे हो मात
दिन सिकुड़ा है ऐसे जैसे
छुईमुई के पात।

निशा कूद कर फिर जब आती
अपने साथ उदासी लाती
टिम-टिम करती दीपक वाती
मन भी बाँचे जीवन पाती

अपना कौन, पराया कौन
कौन न आया, आया कौन
साथ दिया संकट में किसने
बीच राह से भागा कौन

मन सोचे, क्या पाप किए हैं
उपकारों की बोले कौन
लम्बी गाथा जीवन भर की
कह न सके अब जिह्वा मौन

मुह बाये नीरवता के क्षण
प्रति पल युग से लम्बे होते
मित्रों के संग लुप्त हुए जो
पीड़ा के स्वर गहरे होते

मकड़जाल आकांक्षाओं के
कागज की बेडोर पतंगें
अन्त समय के स्वप्न यों बिखरे
ढाक के जैसे तीनों पात।

सेज नहीं यह मधु-यामिनी की
यह प्रयाण की राह
रात मृत्यु से आलिंगन है
दिन जीवन की चाह।

राई ऐसा दिन होता है,
पर्वत ऐसी रात
अपने मन से बातें होती,
अपनों की ही बात।

■

जीवन-बोध

स्मृतियों का एक हिमालय रचा तुम्हीं ने
अभियानों का मत इस पर इतिहास रचाओ
विस्मृतियों की मत खींचो हल्की भी रेखा
काल-बोध का मत इस पर हिमपात कराओ

तृष्णा होती तो बस आँसू से मिट जाती
अनुबन्धी सरिता में मत तूफान उठाओ
परिवर्तन जीवन का यथार्थ है
तो सम्बन्धों के ऊँचे लम्बे बाँध बनाओ

भूलो मत बंधन की सीमा स्वयं तोड़ने
लहरें तटबन्धों के ऊपर आती हैं
और हिमालय अपने ही हाथों छूने को
जाने कितनी जानें अनजाने जाती हैं।

जोड़ जोड़ कर धरी हुई यादों की परतें
कैसे भी हो, इनको तो जीवन्त बनाओ
हर अतीत पतझड़ मत समझो
नव कोंपल से हर वसंत में गीत रचाओ।

■

अनजानी राह

उसने मेरा परिचय कभी नहीं पूछा था
मैं अनजानी राह उसी के गाँव बढ़ गया।
जाने कैसे भाव उभरते उसके मुख पर
मैं झिझकेले पाँव उसी की ठाँव बढ़ गया

गीत व्यथा के अन्तर्मन को चीर रहे थे
कातर नयनों की मैंने पढ़ ली थी भाषा
अति विषाद था मौन में इतना व्यापक मुखरित
सम्बन्धों की देखा नूतन सी परिभाषा

धन लक्ष्मी के बाहुपाश में, जकड़ स्वार्थ में
करुणा और मानवता रोई आर्तनाद में
सहलाने को घाव, हाथ नहीं सबके बढ़ते हैं
मरहम वाले हाथ, कभी भी जल सकते हैं

मेरे जलने से मिलती हो शीत किसी को
जीवन भर जलने का मैं संकल्प करूँगा
देखा सपने रुदन-मुक्ति के व्यक्ति-व्यक्ति के
सपनों की दुनिया से मैं संलग्न रहूँगा।

■

कल्पना

कल्पना के पंख कट गए
अब यथार्थ बोझ बन गया

हम अतीत को भविष्य से
जोड़ भी नहीं सके अभी
बँध गई सीमा विचार की
वर्तमान सोच हो गया

पत्तियाँ साख से कटीं
टहनियाँ ठूँठ हो गई
मूल से कटी हुई लता
वंश का ही अन्त हो गई

कौन सा दर्पण किसे लखें
कौन रूप अब सँवारना
स्वप्न कौन, अब कहाँ दिखे
दृष्टि से कहाँ निहारना

दिख रहे अनेक दृश्य जो
हर दिवस, हर घड़ी, प्रहर
गीत, ताल, लय और लहर
वाद्य, बीन, बाँसुरी के स्वर

कल्पना मे रूप पा गए
पक्तियाँ उसी मे सज गई।

कल्पना के पंख कट गए
अब यथार्थ बोझ बन गया।

काल-चक्र

तुम गौण हो गई,
क्योंकि मुझे जीता है
तुमने नहीं,
तुम्हारे भावों ने,
जिन्हें जानने के लिए
मैं झाँकना चाहता हूँ
तुम्हारी अपलक, विशाल
झील जैसी आँखों के पीछे
जहाँ से नाप सकूँ
तुम्हारे ढाई आखर की गहराई
उसकी असीम परिधि
और घुमा सकूँ
वहीं से,
काल-चक्र।
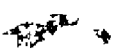
मन के बन्धन

मन के बंधन को अब तोड़ो
मै फिर लौटूँ या न लौटूँ।

दूरी सीमा रहित नहीं है
मीलों के पत्थर सीमित हैं
समय किसी से बँधा नहीं है
युग तो कलियुग तक सीमित है

बीते युग की बातें भूलो
इस युग को तो अब मैं जी लूँ

दूर तिमिर जब फैला होगा
उच्छ्वासों की रातें होंगी
नीरवता की शांति तोड़ कर
साँसों से ही बातें होंगी

विश्वासों की डोर बाँध लो
मै भी अन्तर्मन को छू लूँ।

■

चलो कपोत उड़ायें

नभ शून्य तो कभी नहीं रहा
ग्रह, नक्षत्र युक्त यह रहा

देवों का कभी था यहाँ विचरण
पंछियों का मुक्त संचरण

अब आयुधों की लग रही है भीड़
दानवों के बन रहे है नीड़

यान अंतरिक्ष में बसे
विनाश भय सभी को है डसे

प्राची में लालिमा अभी भी है
पर रक्त बूँद से रँगी हुई

राकेट, मिसाइलों की है कतार
प्रहार के लिए सधी हुई

लाशें बिछें धरा पर
किसी को फिकर नहीं

मानव अमानव हो रहा
किसे खबर नहीं

विस्फोट और बारूद बीच कहीं गुटुर-गूँ
शान्ति और प्रेम की रसधार बहे यूँ

अशान्ति से भरी हैं दिशायें
चलो कपोत उड़ायें।

चलो कपोत उड़ायें।

तराजू

सम्बन्धों के तराजू की डोर
कहीं बड़ी कही छोटी
स्वार्थ के बटखरे पर तुलती
संवेदना की बोटी।

मानव और दानव में
अब रूप भिन्नता नहीं
एक अन्तर शेष-
किसकी खाल मोटी!

सातवाँ द्वार

अन्धी गली, भटके लोग
कोई जुगनू दिखा तो उधर
भ्रम टूटा तो इधर
अँधेरे में
अपनी ही उंगलियाँ पकड़
घूमते हैं इधर से उधर
और ढूँढते हैं, तोड़ने को
चक्रव्यूह का सातवाँ द्वार।

जाति, वर्ग, सम्प्रदाय
यह भी हैं सुभद्रा के उदर
यह भी है सीमित
निद्रा से पीड़ित
लक्ष्य कर तिरोहित
अब जुड़ गया आडम्बर।

ढूढना है तो ढूँढो
देश की माटी को
इसकी परिपाटी को
माटी की सुगन्ध को

मानव से मानव के
टूटे सम्बन्धों को
और उनसे जोड़ो
संस्कृति और संस्कार
फिर अपने आप टूट जायगा
चक्रव्यूह का सातवाँ द्वार।

पहचान

तुम्हारी नाराजगी
बस इतनी ही समझता हूँ
कि अपनों में होती है।
गैरों की घातों
आघातों से
सभी तो निपटते हैं,
पर व्यथा और पीड़ा
बस अपनों से ही होती है।
प्रश्न केवल इतना है
अपना वह कौन है?

दंभ

मेरा दंभ
कहावतों से ज्यादा पुराना है।
इस पर चोट का टनाका
बड़बोला है,
बहुत गूँजता है,
जब फैल जाता है
तो मैं मान जाता हूँ
कि मै जीत गया।

तत्त्वहीन, पीतल का मुलम्मा चढ़ा
घुन खाई लकड़ी का यह मुग्दर
मैं इसे छोटों पर भाँजता हूँ
और बड़ों को दिखाता हूँ।
इसे तोड़ने के लिए
नहीं चाहिए कोई वज्र,
चाहिए, बस एक छोटा सा
भावुक क्षण,
एक टूटा सा दर्पण,
जिसमें मैं अपने 'मैं' को छोड़कर

भीतर झाँक सकूँ
और जान सकूँ
कि दंभ दंभ ही है,
चकनाचूर होना इसकी नियति है।

पड़ाव

लगाव किससे?
कितना गहरा?
कल के कोहरे की
तस्वीर अनदेखी है
धुंध के पार का
चित्र अभी सादा है
तूलिका तुम्हारी है
रंग तुम्हें भरना है
भटकती कल्पनाओं को
पड़ाव कहीं चाहिए।

निष्ठुर

यह दीवारें, यह छत,
मेरे साथ रोई है
मैंने अपनी लाश
अपने कंधो पर ढोई है
कंधे नही,
पर दीखते हैं अवयव
जिन्दा ही मरे
साँस लेते शव

गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ
पंचतारा होटल
सड़कें, नहरें, मशीनें
कलम, कुर्सी की हलचल
जैसे निर्जीव, निर्मम शिकंजे
जले, अधजले, पके मर्महीन खड़ंजे
हैं चेतना दफनाये
सभी रक्तहीन शिराएँ

अट्टहास मेरी चीखे
खिलखिलाहट मेरा दर्द
मुस्कराहट मेरी भृकुटी
और क्रोध, बर्फ सा सर्द
कैसा है यह उपवन
जहाँ मुरझाते हैं प्रसून
जोंक और गिद्ध के वंशज
चूसते हैं खून
नोचते हैं बोटियाँ
दूर से दिखाते
सूखी सी रोटियाँ

कंकरीट के जंगल में
मानवता सोई है
चुप, शान्त,
यहाँ अपना न कोई है
इसीलिए ये दीवारें, यह छत,
मेरे साथ रोई है
मैंने अपनी लाश
अपने कंधों पर ढोई है।

■

कर्मण्येवाधिकारस्ते

मैंने नहीं देखा
कि मानवता पारदर्शी है
संवेदना को मार,
यहाँ दुनिया प्रियदर्शी है।

नींव के पत्थर
इमारतों का बोझ सहते हैं
स्वर उनकी कराहों के
कभी नहीं उभरते हैं

यहाँ अपनी ही डुग्गी
अपने से पीटें
अपनी ही काया
अपने से घसीटे

स्वार्थ के बटखरे
नहीं करते लाशों का मूल्यांकन
पसंग की तराजू
करती जीवन का अवमूल्यन।

मुझे जीना भी है
मुझे मरना भी
मुझ चलना भी है
मुझे थमना भी

मैं वह इंसान हूँ
जो रोज़ मर जाता हूँ
और श्मशान पर जाकर
रोज़ जी जाता हूँ

फिर बार-बार गुनगुनाता हूँ
'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन'।

■

विद्रोही

हम एक ही युग में
कई युगों में जीते हैं
अमृत को छोड़
केवल ज़हर बोते है
ताकि आने वाले कल में
कोई हमें द्रोही नहीं,
विद्रोही कहे।

राह

क्षण

कैसे

कण

कैसे

चलो

जो तिमि

संवेदन

सबको

के

तृपित

ही कहते हैं

मृत्यु

जो मरता

कैसे किस

चेतन मन

झकझोरे

आत्मलीन

श्वेद बिन्दु

पूछती है

प्रकृति

यथास्थिति भी कोई जीवन है?
या मृत्यु का दूसरा नाम?

सरिता के प्रवाह में तरंग
करती नभ को छूने का प्रयास
या भँवरों के साथ पाताल में
करती चौदह रत्नों की तलाश
फिर ऊपर आती, किनारों को चूमती,
कहती, बढ़ जाती, कि
स्थिरता पलायन है
गतिशीलता ही जीवन
इसलिए
'चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति'।

राह

क्षण क्षण गति से बीत रहा है
कैसे इसमें गीत सुनाऊँ
कण कण जो अब विसर गया है
कैसे उसमें प्रीत लगाऊँ ?

चलो खोज लें वह धारा
जो तिमिर तोड़ दे, पर्वत लाँघे
संवेदन के दीप जला कर
सबको उससे राह दिखाऊँ ?

तृषित बताये जल की महिमा
मृत्यु बताये जीवन क्या है
जो मरता है, वही अमर है
कैसे किसको मैं समझाऊँ ?

चेतन मन जो सुप्त पड़ा है
झकझोरे या कौन जगाये
आत्मलीन है व्यक्ति व्यथित है
श्वेद बिन्दु अब किधर बहाऊँ ?

■

नारी

जटिलताएँ, विषमताएँ
व्यवस्थाएँ, विवशताएँ
जीवन को घेरे
जैसे संग-संग फेरे।
इनका बोझ उठाये
जो सब ओर दीखती है
मौन में भी चीखती है
वह नारी है, कोई हौआ नहीं।

इसी चीख ने चौंकाया
फिर सब कुछ याद आया
आदम और हव्वा का इतिहास
उनकी क्रीड़ा, उनका परिहास
निर्वसन, गृह विहीन
हव्वा, आदम में लीन
एक सेब में संतुष्ट
एक दूसरे से परिपुष्ट।

पर सभ्यता से बोझिल नारी को
क्षुधा और हताशा ने
आत्मीयता के बन्धन
तार-तार तोड़ डाले
सूखी रोटी
कोई आदम का सेब नहीं
जो अपने सम्बन्धों को
अंतरंग से जोड़ डाले।

अभाव से ग्रस्त
व्यथा से अभिशप्त
व्यवस्थाओं से त्रस्त
जब अभिलाषाएँ मर जाती हैं
तब अच्छा नहीं लगता
मुंडेर पर बैठा हुआ कौआ
मैं खुद समझ जाता हूँ
कैसे हव्वा हुई हौआ।

■

विहान

रात कट गई, हो गई है भोर
रवि रश्मियाँ बढ़ीं धरा की ओर
है कर्म का आह्वान,
ला आ गया विहान
ला आ गया विहान।

पंख फड़फड़ा कर पखेरू हैं उड़ चले
रंभा रही हैं गाय भी छप्परों तले
सांकलें खनक रहीं, मुर्गे की लगी बाँग
उठ रहीं चारपाइयाँ, उठ रहे बिछान
चल पड़ा है खेत को हल लिये किसान
ओस सिंची भूमि पर पाँव के निशान।
ला आ गया विहान।

नीम की दातौन कहीं कोयले की पीस
स्नान कर रहा कोई कपड़ा रहा है फींच
कुछ खेत में अँधेरे से पलेवा कर रहे
उठ गए गदेलुआ, कलेवा कर रहे

कागा दिखा मुंडेर पर दादी तो खुश हुई
दादा से बोली आज तो आयेगा मेहमान
लो आ गया विहान

हाथ में लिए कुदाल, लेकर खुरपियाँ
श्रमिक चल पड़ा, चल पड़ी है चरखियाँ
कोल्हू के बैल चल पड़े, घानी भी भर रही
मोट के लिए कहीं है नार वट रही
चल पड़ी रहट, लोग काम पर चले
कोठिले में भर रहे अनाज नौजवान,
लो आ गया विहान

भट्ठियों में कोयला दिया लुहार ने
चाक भी नचा दिया उठ कर कुम्हार ने
ड्योढ़ी पर जल गया बाबा का भी हुक्का
बीड़ी का खींच कश, जोता जुम्मन ने भी इक्का
पंसारी लगा ताकने ग्राहक कोई पक्का
दर्जी ने शुरू कर दिया सिलना नये परिधान
लो आ गया बिहान।

कुछ ने लिये गँड़ास, चलो कुट्टियाँ काटें
सुतुही व पहसुली की धार, सब्जियाँ काटें
दालान में चली बहुरिया दही बिलोने
मूसल से ओखली में कोई धान कूटने

पीसे कोई चकरी में दाल, जाँते से आटा
चहुँ ओर दीखता यहाँ है कर्म का सम्मान
ला आ गया विहान।

पीठ पर लदी हुई है भारी पोथियाँ
झाँकती थैले में कहीं काली तख्तियाँ
बालक हैं चल पड़े शाला की बाट पर
चल पड़ा बढ़ई का रंदा भी काठ पर
लादी धरे पीठ, बरेठा भी चल पड़ा
मास्टर जी चल पड़े मुँह में दबाकर पान
ला आ गया विहान।

नाऊ की चली कचकचा छोटी-बड़ी कैंची
धूनी रमाई साधू ने, ले हाथ चिलमची
गोबर की टीप पोत ली, पनही चमक गई
साइकिल में हवा डाल दी, बाँछें भी खिल गई
ग्वाले बढ़े शहर को, लादे दो-दो टंकियाँ
दफ्तर के लिए बड़कऊ बाबू का भी पयान
ला आ गया विहान।

ल बाल्टी कहार जुटा कुआँ जगत पर
सतनरायन की कथा प्रधान जी के घर
पंडित जी भर रहे हैं कठौता में पंजीरी
फल-फूल, पंचामृत है, कठौती में है पूरी

अटारियों से बरसते अक्षत के हैं चावल
नाइन तो किए जा रही बिटिया का ही बखान
लो आ गया विहान।

जिन्दगी है जाग उठी, क्या हुआ विहान
क्रिया हर जगह दिखी, कर्म के प्रमाण
पर अभी भी बहुत से पड़े प्रमाद में
प्रासाद में पड़े हैं या डूबे विषाद में
झकझोर दें उन्हें, करें समय की वह पहचान
जो सो गया उसका, सदा को सो गया विहान
लो आ गया विहान।

हमारा भी यह विहान, तुम्हारा भी यह बिहान
देश का विहान, यह तकदीर का बिहान
ठान लो कि काम से डरोगे अब नहीं
मान लो कि आज से थकोगे अब नहीं
दो वचन कि आज से रुकोगे अब नहीं
है बदल रही विधा, बदल दो अब विधान
लो आ गया विहान।

■

अभिलाषा

गाँव की अमराइयों में
नव सुहागिन
एक तिनका मुँह दबाये
शून्य नभ को देखती थी
सोचती थी
बौर मेरा भी खिलेगा एक दिन।

विहँस कर बोली सखी
तू देखती क्या
है वहाँ क्या
एक सूरज, एक चंदा और तारे
क्या मिलेगा
रोज तू इनको निहारे ?

कह उठी वह,
हाँ, मिलेगा
एक सूरज, एक चंदा
और तारे

और फिर यशगान
कुल का
जो मुझे आभास देगा
पूर्णता का।
खिंच रही आकृति
जहाँ पर वंशजों की
गगन ही तो
तृप्ति का सागर बनेगा।

■

असमंजस

इन लहरों का क्या होगा
जब इन्हें किनारा नहीं मिलेगा?

इन्द्र धनुष की ललक दिखाती
इन्दु-मुखी हो उठने वाली
प्रिय तलाश के चिर प्रवाह में
हिमखण्डों में चलने वाली,

यदि तटबन्धों का इन्हें सहारा नहीं मिलेगा।

उद्वेलित साँसों सी चलती
गति-लय से उन्मुक्त उछलती
उच्छृंखल सी कभी मचलती
तप्त आवरण, अंतः शीतल

क्या गंतव्य तुम्हारा होगा?

अम्बर में तपते सूरज से
बूँदें हीरों सी चमकाती
और चाँदनी की रातों में
चादर सी फैली लहराती

इन्हें बाँधने को जब कोई भागीरथ भी नहीं मिलेगा।

■

अर्थहीन स्पन्दन

व्याकुल सा मन भटक रहा है
किसको खोजूँ? कैसे पाऊँ?
अर्थहीन स्पन्दन होगा
साँझ ढले किसको गुहराऊँ?

अम्बर में कुछ भटका-भटका
विस्मय में कुछ वहका-वहका
दूर क्षितिज से टकरा लौटा
किसको मन का मर्म वताऊँ?

अन्तर्मन की दृष्टि-परिधि में
एक विन्दु ही केन्द्र वनाता
सूक्ष्म कणों की स्वयं-परिधि में
किसका दर्शन? किसे दिखाऊँ?

वाह्य जगत, अन्तर्मन चेतन
भिन्न परिधि है, भिन्न भित्तियाँ
सभी बिंधे हैं एक विन्दु से
ज्योति विन्दु को कहाँ दिखाऊँ?

■

वानप्रस्थ

अतीत के मथन की छाछ
कोई ग्राहक ही नहीं
अनुभवों के अम्बार
जेसे अछूत हों अगार
नई पीढ़ी इसे कहती है
निरर्थक, अप्रासंगिक
और भूल जाती है, कि
शैशव, युवा और बुढ़ापा
है जीवन का पूर्ण वृत्त
और तीनों ही हैं
एक दूसरे के आनुषंगिक

बीते कल को क्या दिखती नहीं
आने वाले कल की दृष्टि
वदला सोच, नया चिन्तन
वने ही रहेंगे क्या सब पुरातन
अह का पर्दा सच को ढँक लेता है
'मै' का आभास नये 'मैं' को जन्म देता है

अपना ही रक्त अंश
यह नई पीढ़ी
इसे कुछ करने दो
मेरे 'मैं' से लड़ने दो
इसके कर्म और साधना का
निरन्तर मन्थन
देगा नया निनाद
और धरा को कम्पन

इसलिए आओ, हम बुड्ढे और बुढ़िया
घर की दहलीज़ से ही
हर सुबह के सूरज में
देखें नये गुड्डे और गुड़ियों का खेल।

■

स्वप्न

सोया मन जब स्वप्न देखता
दिन में सपने क्यों न आयें
कभी कल्पना की सीढ़ी चढ़
गगन चूमती हैं आशायें
कभी धरा पर ही गिर जातीं
टूटे सपनों की मालायें
टूटे मन को कौन लुभाये
रात की लोरी कौन सुनाये
कौन सुनाये गीत धरा के
माँ भी जब सपना हो जाती।

■

निरुत्तर

चुनौतियों की हुंकार
क्या सो गया पुरुषार्थ?
वेद, पुराण, रामायण, गीता
सुनेगा कोई पार्थ?
एक था वृहन्नला
पर कुछ समय के लिए
उसका भी पौरुष जागा था
संशय जब मन से भागा था
क्या हम सब भी वही हैं
शापित, सदा के लिए?
फिर 'उत्तिष्ठः जाग्रत' का उद्घोष
किसके लिए?
यह प्रश्न हैं
जो कौंध कर आते हैं
हमें निरुत्तर बनाते हैं
उत्तर हो भी,
तो किसके लिए?

खंडित भारत

कभी कभार जो कोशिश से याद आई तो
धुंध के अंध में रेखाएँ उभर आई तो
आज से आहत, गये कल की वह सुनहरी रेखा
माँ, कहीं पूरी तेरी तस्वीर उतर आई तो,
मौन स्वागत भी तेरा होगा, बहुत कहना कठिन
माँ, तुम्हारी शक्ल को अब एक करना भी कठिन

बेडियाँ तो कट गई, पर अंग भी कटते रहे
और जख्मों से नये नासूर नित बनते रहे
जब स्वार्थ का परिवेश हो, उन्माद में रातें कटें
आयुधों की अग्नि में, जब स्नेह के बन्धन छटें
रिश्ते कटें, नाते हटें, तो टूटते सब स्वप्न तेरे
फिर सजेंगे हाथ किसके, आज यह कहना कठिन।

प्रेरणा

अतृप्त आकांक्षाओं का
अथाह सागर
जब रात के अँधेरे में
अँखियों की डिबियों में
बन्द हो जाता है
स्वप्न कहलाता है
और कर्म को जगाने की
प्रेरणा बन जाता है।
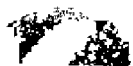
नियति

स्वप्न और कल्पना
मन-प्रसूता
जब आकृति पा जाती है
कृति कहलाती है
पर कृति जब पूजित हो
स्रोत भूल जाती है
कृति-वात्सल्य की
मृत्यु हो जाती है।

जिन्दगी

मन करो उदास मत कभी
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

एक एक दिन लहर लहर
हर्ष और विषाद के प्रहर
बीच में कहीं कहीं भँवर
संकटों के तेज बने स्वर

हो जहाँ समर, मिले विजय वहीं
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

किलकारियों में हम सुनहरे स्वप्न देखते
जल-प्लवन में हम सृजन के बीज खोजते
बाल का वह सरसपन, युवा का वह उफ़ान
आदि से है अन्त तक उतार और चढ़ान

मन करो अधीर मत कभी
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

शैशवी वया, युवा, जरा की आयु तक
एक ही सफ़र, डगर चलेगी कहाँ तक
यह डगर मिली नहीं, बनाई गई है
श्रम-कणों की बलि यहाँ चढ़ाई गई है

रेत में बनी हीरे की ज्यों कड़ी
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

पर्वतों को तोड़ कर बीहड़ को लाँघ कर
ऊँची कहीं, नीची कहीं, धरती को फाड़ कर
कुंज को सींचा कहीं, निर्झर बनी कहीं
मन्दिरों में आचमन, निष्ठुर बनी कहीं

पर सृजन के गीत में मिठास है अभी
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

जन्म और मृत्यु दोनों दो कगार हैं
एक इधर, दूसरा क्षितिज के पार है
दृष्टिपात हो रहा अपने अतीत पर
ध्वंस या निर्माण, यह अपने प्रतीत पर

स्वयं की संतुष्टि की सीमा बहुत बड़ी
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

बन्ध, अन्त-आयु के अब टूटने लगे
भक्ति के पल्लव यहाँ अब फूटने लगे
थम गया प्रवाह, गति भी मन्द हो गई
फिर परम प्रयाण में मति मग्न हो गई

फूलने दो अब प्रसून, आ गई घड़ी
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

लो मिलन का बिन्दु आ गया
मुक्ति का जो सिन्धु आ गया
है कगार भी यहाँ नहीं
है अनन्त भी यहीं कहीं

अब विराट में मिली नदी
जिन्दगी बहुत बड़ी नदी।

नया क्षितिज

हर व्यक्ति का अपना अलग आकाश होता है
वही सीमा, वहीं संतुष्टि का आभास होता है

भित्तियों पर चित्र पहले से बने हैं
लख इन्हें हम रुक गए तो बिंध गए फिर
परिधि-निर्धारण हुआ यदि पूर्व से ही
स्वयं में ही थम गए तो बँध गए फिर

भले ही कुछ बिन्दु पर अधिमान देकर
सोच, चिन्तन, या नया कुछ नाम देकर
उन भित्तियों का रूप परिवर्तन करें हम
नई रेखाओं से परिमार्जन करें हम

पर नींव, प्राचीरें, पुरातन ही रहेंगी
पूर्व रेखाएँ उभरती ही रहेंगी
विगत के ही कोण इंगित हो सकेंगे
कल भविष्यत् के कथानक लुप्त होंगे

चन्द रेखाओं की सीमा बन गई तो
सृजन को भी परिधि मे बधना पडेगा
उन्मुक्तता कितनी भी उच्छृखल बनेगी
व्योम के विस्तार में रहना पडेगा

पर अन्त यह विस्तार, क्यों स्वीकार हो
उस पार भी कुछ, क्यों न यह स्वीकार हो
हर नए आकाश के उस पार नव आकाश हो
कल्पना तो है असीमित, खोज की भी प्यास हो

खोजने को हाथ यदि तत्पर खड़े हों
छिद्र काले व्योम में कितने मिलेंगे
समय के उस पार बढ़ जाने की क्षमता
सिद्ध हो तो साथ कितने ही चलेंगे

संरचना की समर्थ शक्ति में लिए चुनौती
रूप अभेदन खंडित करके इसी क्षितिज का
स्थापित कर परा-व्योम के नये मान फिर
पौरुष से बढ़ता जाये विस्तार क्षितिज का

नई भित्ति हो, नये चित्र हों
नये सृजन के नये रचयिता
नई दृष्टि हो, नई सृष्टि हो
नये क्षितिज पर नये नियंता।

■

दिशाहीन

ऋतुओं ने
बदली हैं राहें
हर राहों पर
हैं चौराहे
जली आग
धरती के आँगन
बह रहे शिरा में
उग्र रक्त कण
क्षण-क्षण प्रति क्षण
होता कम्पन।

पर्वत-पर्वत
क्रुद्ध वायु
टकराती जाती
वृक्ष काँपते
घाटी-घाटी
दूब सिहरती
तन मन में भी
होती सिहरन

समय चक्र का
कैसा नर्तन?

टहनी-टहनी
झूले-झूले
मीत झूलते
गीत गूँजते
पल-पल उत्सव
प्रीत, प्रणय
मुक्त गगन में
नील निलय
भय यहाँ नहीं,
है पूर्ण अभय।

विहग-विहग का
आपस में मिल
तिनका-तिनका
जोड़ जोड़ कर
बना बसेरा
हम सब तो बस
आग लगाते
अपने ही घर
प्रतिबंधित कर
कलरव के स्वर

भीड-भाड़ में
अप-संस्कृति के,
जगल में
मानस विकृति के,
राह न पाते
भटके जाते।
दिशाहीन है
सभी दिशायें
कैसे, किसको
राह दिखायें?

■

अ-योद्धा

हम रंगकार, नाट्यकार, कलाकार
कला और कलम के योद्धा हैं
योद्धा और सत्ता का
गहरा सम्बन्ध है
सदा जुड़े रहने का
हमारा अनुबन्ध है
हम प्रदर्शनकारी हैं
दिखाते हैं उस कला को
जहाँ सब रंग बदरंग है
और जो रँगती है
केवल काली साया।

हमारी कलम की अँगीठी पर
सिंकती है रोटी
द्वेष और दुर्भावना की।
जली हुई रोटी का धुँआँ
बढ़ाता है भूखों की आह,
उजड़ों की पीड़ा

और फैलाता है
नफरत धुँआधार
फिर भी हम लिखते हैं वार-वार
ताकि लड़ो और मरो
क्योंकि हम सत्य के पुजारी हैं
और मृत्यु एक सत्य है।

सदियों की दुत्कारी कथाओं से
हम पुष्पित और प्रमुदित
क्योंकि हमारा यह शोध कार्य
पैदा करेगा टकराहट,
मारेगा आस्था को
जिससे उपजेगी कडुवाहट
और हम सिद्ध होंगे बुद्धिजीवी
जो, अपनी ही सर्वमान्य गर्विता
संस्कृति को नकारता है
क्योंकि हम उसकी शतरंज के मोहरे हैं
जो राजनीति का पुरोधा है।

हम सहमत हैं,
हम सब अ-योद्धा हैं।

■

गतिवान

मैं अकेला ही चलूँगा
साथ कोई हो न हो
तोड़ दूँगा रूढ़ियों को
अवरोध कितना भी कठिन हो

कायरों को सदा से ही
साथ मिलता है नहीं
निष्क्रियों को कर्म का तो
स्वप्न दिखता है नहीं

जो शीश कर पर ले चला
आगे बढ़ा वह
'महाजन' से हो विभूषित
मार्ग-द्रष्टा बन गया वह

रुक गया या मुड़ गया तो
धार कुंठित हो गई
सत्य, शिव, परिणाम से फिर
धरा वंचित रह गई।

■

कर्तव्य-बोध

उड चले जब नीड़ से पंछी सवेरे
चहचहाहट सुन अचंभित हैं चितेरे
कौन गति इनको दिलाता है यहाँ
कौन लायेगा इन्हें संध्या बसेरे

यह खुले डैने हवा में तैरते क्यों
आस की कुछ डोर मन में बाँधते क्यों
प्रेरणा वह कौन सी, घोंसले को छोड़ते वह
बन्धनों से मुक्त हो, बन्धनों को जोड़ते वह

जब खुली सी चोंच ही कहती विदा-स्वर
लौट कर आना प्रिये कुछ चोंच में भर
कुछ कहीं तो मिलेगा ही, भर सके जिससे उदर
दायित्व का निर्वाह कैसे हो सकेगा बैठ घर

भरना उड़ानें इसलिए अनिवार्य है
सकाम हो, निष्काम हो, कर्म का अध्याय है
तिनके जुटाना भी तो अपरिहार्य है
मुक्ति का, बन्धन नहीं पर्याय है

पर प्रकृति के नियम निरंकुश
कहीं-कहीं तो क्रूर बने हैं
हो पिड़की का अन्त सुनिश्चित
बाज, गिद्ध भी यहाँ बने हैं

मरण एक का, दूजे का जीवन है बनता
शोषण कुछ का, कुछ का पोषण भी है बनता
खेल से प्रारब्ध के अनजान हैं सब
नियति में है क्या लिखा, यह ज्ञान है कब

पर पखेरू तो उड़ेंगे, गिद्ध हो या बाज ही
मुक्त ही विचरण करेंगे, वचन का निर्वाह भी
दायित्व का बन्धन करे मन की सुदृढ़ता
संकल्प ही लायेंगे फिर से नीड़ घेरे।

■

विरागी मन

यह मन है कैसा भोगा
बन्धन इसको बाँध न पायें
गति है इसकी सदा अपरिमित
सीमा जिसको जान न पायें

प्रीति, विराग, लिप्त लिप्सा में
कहाँ रम कोई न जाने
किससे मुड़ कर रूप कौन ले
शायद यह खुद भी न जाने

संन्यासी मन भी विचरेगा
ठौर कहीं उसका भी होगा
कहीं कन्दरा, मन्दिर, गिरजा,
मस्जिद, काबा, कुछ तो होगा

यहाँ विरागी मन का बन्धन
मोह के धागे बाँध न पायें।

■

श्वास

वर्फ सी कपास हो गई
श्वास भी उदास हो गई

भोर हुई टूट गए स्वप्न के प्रहर
रेत से जो बने थे कल्पना के घर
राह भी भटक गए हर शहर शहर
गिर गया बहुत बड़ा क़हर
व्योम की तलाश हो गई

एक सफर रोज ही, अनजान है डगर
काल व्यूह अंध है, हर घड़ी, प्रहर
वर्ष, माह, दिवस के मापदण्ड पर
मिन्नतों से जन्मते ही आयु पूछ ली
पौध की तराश हो गई

समय पंख ले उड़े विकल्प
भूल से गए सभी संकल्प
जो मिला उसी से हम जुड़े
अवसरों को छोड़ कर मुड़े
जिन्दगी प्रयास हो गई

कूदने दो अब भविष्य में
जूझने दो अब अदृश्य में
कर्म के प्रकाश में खिले
सृष्टि के विकास को चले
चुनौतियाँ हताश हो गई

जिन्दगी के रूप हैं अनेक
एक समय दूसरा, एक समय एक
कभी निराश हो गई, प्रलाप हो गई
कभी-उदास तो कभी हुलास हो गई
श्वास ही पलास हो गई।

■

क्षुधित

भले हिमालय कितना भी ऊँचा उठता हो
कुछ का चिपका पेट अभी भी तो खाली है
हो न सकी जो शान्त उदर की अन्तर्ज्वाला
बड़ी योजना, मुद्रित शब्दावलि खाली है

जन्म गटर में रोज़ ले रहे
पटरी पर जो रोज़ मर रहे
सूरज की वह तपन और वर्षा की बूँदें
जीवन के हर पन में कितनी आह भर रहे

तार तार बंधन है टूटता
स्नेह का तर्पण नित्य दीखता
अपने ही कृत्यों से मरता
फिर भी मन है नहीं टीसता

शान्ति व्यवस्था की पुस्तक के कोरे पन्ने
श्वेत जिल्द हो, सतरें तो फिर भी काली हैं
'बुभुक्षितं किंम न करोति पापं' भूल रहे हम
क्षुधा-मुक्ति में अपनी, उर की सरिता शैवाल

अन्न नहीं, तो जल भी जीवनदाता होता
प्रश्न-चिह्न लग गए जाह्नवी की शुचिता पर
जीवन का आदर्श हर तरफ डगमग होता
सभी आस्था आत्म हनन को, है बाधिता पर

क्षुधा-व्यथित जो आँसू पीते
उनका केवल उदर हिमालय
करें जतन ऊँचा उठ जाये
भर जाये उनका भी आलय

शक्ति-पुंज के जो प्रतीक हैं
शक्ति-हीन से पड़े हुए हैं
जाग्रत कर उनके पौरुष को
एक बार सब बनें हिमालय

उनके इस विराट रूप में
स्वाभिमान से भरा हिमालय।

■

'वन्दे मातरम्' हम गायेंगे

बढ़ चल, बढ़ चल मेरे साथी
पग-पग बढ़ते ही जायेंगे।

मन में दृढ़ निश्चय की ध्वनि हो
लक्ष्य समर्पित प्रखर अग्नि हो
नील गगन में जैसे रवि हो
राष्ट्र प्रेम की उत्कट छवि हो
राहों में कितने संकट हों
कट जायेंगे, कट जायेंगे

बढ़ चल, बढ़ चल मेरे साथी
कट जायेंगे, कट जायेंगे।

दुर्गम या पथरीली राहें
पगडंडी या तिरछी राहें
समतल या गहरी हो गाहें
पकड़ एक दूजे की बाहें
कर्मयोग का पाठ पढ़ाते
हम सब बढ़ते ही जायेंगे

बढ चल, बढ़ चल मेरे साथी
बढ़ जायेंगे, बढ़ जायेंगे।

क्षणिक दृष्टि जो बाधित करते
कोहरे को हम नहीं समझते
बादल आसमान पर घिरते
रिमझिम या घनघोर बरसते
कितने भीषण हो वह गरजें
छँट जायेंगे, छँट जायेंगे

बढ़ चल, बढ़ चल मेरे साथी
छॅट जायेंगे, छँट जायेंगे।

हिंसा, द्वेष, शत्रु के घेरे
छद्म वेश में नकली चेहरे
भेदभाव के घाव जो गहरे
इन्हे सदा के लिए मिटाकर
राम, कृष्ण, गौतम को लाकर
मातृभूमि को चमकायेंगे

बढ़ चल, बढ़ चल मेरे साथी
चमकायेंगे, चमकायेंगे

सुभाष, भगत, आजाद, लाहिड़ी
बिस्मिल, राजगुरू, बंकिम की
सौगन्ध शहीदों रक्त बूँद की

विश्वमंच के हर कोने पर
वन्दे मातरम्, वन्दे मातरम्
'वन्दे मातरम्' हम गायेंगे

बढ़ चल, बढ़ चल मेरे साथी
'वन्दे मातरम्' हम गायेंगे।

बाधाएँ न रोकें पग को
दिये चुनौती सारे जग को
होगी सीमा कभी न छोटी
राष्ट्र माल की कड़ी न टूटी
दूर शिखर की हर चोटी पर
भारत का ध्वज फहरायेंगे

बढ़ चल, बढ़ चल मेरे साथी
फहरायेंगे, फहरायेंगे।

विडम्बना

कैसी विडम्बना
जो यहाँ रहते हैं
उनमें से ही
कुछ इसे डसते हैं।
उन्हें बताना है
हमारा क्या ठिकाना है।
भारत तो बसता है
वेद की ऋचाओं में
ज्ञान की विधाओं में
कर्म की दिशाओं में।

स्व-घोषित, स्व-पुष्पित,
छद्म से शोभित
तुम जैसों ने
छलावों के नारों में
विकारों की संतुष्टि में
अहं की तुष्टि में

देश की आत्मा का
एक पुतला बनाया
उसी की सलीब पर
बेहिचक लटकाया।

तुम्हें पता ही नहीं
उसका आकार व रूप
रंग, ढंग, सुगन्ध
आयाम का स्वरूप
तुम्हें तो है उसे मारना
हर अवसर पर नकारना
तुम्हारे सीमित आकाश का
छोटा सा मूल
जो यहाँ तपी नहीं
उन पुस्तकों की धूल।

अणु-अणु आयातित
दर्शन के स्वत्व में
तुम्हारे व्यक्तित्व में
मानस पंच-तत्त्व में
न है गंगा की संस्कृति
यमुना का संस्कार
न कृष्णा का मृदंग
कावेरी की झंकार
न सोमनाथ का संदेश
ब्रह्मपुत्र की पुकार

किसी भी पीढ़ी को
नहीं दिखाया तुमने
आशा से प्रफुल्लित
अरुणिम प्रभात
ज्ञान का प्रवाहक
हर अंचल का प्रपात।
भावुक मन में भरा
तुमने उन्माद का रंग
कटुता और द्वेष,
हिंसा की उमंग।

उसके कोरे पन्नों पर
लिखे तुमने अक्षर
विकृत इतिहास के
भयानक आभास के
माटी से प्रेम के नहीं
कुशल क्षेम के नहीं,
आपस में टकराने को
आग बरसाने को
समूचे परिवेश की
सुगन्ध खा जाने को।

तुम आशंकित थे,
हो, और रहोगे
कि कहीं माटी की सुगन्ध से
मदहाल नौनिहाल

यह उसे मृत्यु नहीं
जीवन दान देगी
अपनी हर बाँहों में
भर कर वरदान देगी।

यह पुतला तो जीवित है
जीवित रहेगा
मारो, कितना भी मारो
यह कभी नहीं मरेगा।

■